2. रस-सिद्धान्त

रस का स्वरूप

भारतीय मनीषियों ने जीवन के परम उद्देश्य के रूप में अलौकिक आनन्द स्वरूप तत्त्व (ब्रह्म रस) का विवचेन किया है। प्राचीन काल से लेकर आज तक रस ही भारतीय आलोचना का मानदण्ड बना हुआ है। रस तत्त्व की सत्ता का उदय तो भारतीय काव्य के अभ्युदय के साथ ही हुआ था। इसके प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत श्रुति प्रस्तुत की जा सकती है। - ''रस ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'' अर्थात् इसकी महिमा बड़ी व्यापक है। वस्तुतः जीवन की गति यह स्पष्ट कर देती है कि रस जीवन का सार है और समस्त मानव-मात्र का जीवन रस के लिए है। जितने भी क्रिया-कलाप हैं, उनकी प्रेरणा और लक्ष्य, उनका उदय और अस्त रस में ही है। साथ ही, साधनावस्था भी रस की अवस्था है, इसमें संदेह नहीं, यदि हम उसे रसरूप में परिणत कर सकें। यह निर्विवाद सत्य है कि रस जीवन के लिए आवश्यक तत्त्व है। इसीलिए आचार्य भरत ने कहा है-

''नहिं ..... रसादुते कश्चिदपि अर्थः प्रवर्तते।''

वास्तविक तथ्य यह है कि जीवन के सुव्यवस्थित निर्माण के लिए 'रस' अनिवार्य है। रस रहित जीवन व्यर्थ है। जीवन की गति रस के कारण ही है।

'रस' शब्द 'रस्' धातु और 'धञ्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है। इसे निम्न प्रकार व्याख्यायित किया जा सकता है-

'रस्यते आस्वाद्यते इतिरसः'

अर्थात् जो आस्वादित किया जाए अथवा जो 'बहता है वह रस है'। इस प्रकार इसमें आस्वाद्यत्व और द्रवत्व की विशेषताएँ निहित है।

शब्दकोष में 'रस' के अनेक अर्थ है, यथा-गन्ध, स्वाद, विष, राग, श्ंगार, द्रव, वीर्य, अम्बु एवं पारद के अर्थ का द्योतक भी 'रस' शब्द है।

सामान्य व्यवहार में 'रस' का चार अर्थो में प्रयोग होता है-

1. पदार्थो का रस - अम्ल, तिक्त, कषाय आदि।
2. आयुर्वेद का रस - पारद का रस।
3. साहित्य का रस - नीति, भाव, राग, आवेग, करुण, वीर, श्ंगार आदि।
4. मोक्ष या भक्ति का रस - ब्रह्मानन्द।

किसी वस्तु की स्वरूप प्रक्रिया का अभिप्राय है - उसके स्वनिष्ठ रूप को उसके लक्षण से लक्षित और परिभाषण से परिष्कृत करना। रस-प्रक्रिया के भीतर रस की ऐसी ही स्वरूप प्रक्रिया का विचार किया जाता है। रस के स्वनिष्ठ रूप अथवा स्वरूप का व्यापक अर्थ है काव्यानन्द।

सामान्यतः काव्यानन्द ही काव्य-रस का स्वरूप है। काव्य-रस का यह स्वरूप इतना सार्वभौम है कि इसके आयोग में विश्वभर के साहित्य आ जाते हैं।

भरत का मतः

भारतीय काव्यशास्त्र में आचार्य भरत का मत है कि नानाभावोपगात स्थायी भाव ही रस है। अर्थात् रस एक प्रकार की भावमूलक स्थिति है जो कवि-निबन्ध विभावादि के प्रसंग में नाट्य सामग्री द्वारा रंग मंच पर उपस्थित हो जाती है। यह भावमूलक स्थिति है भरत के अनुसार 'रस' है। भरत का यह मंतव्य उनके प्रख्यात लक्षण - 'विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद्रसनिष्पतिः' में अभिव्यक्त हुआ है, और जो रस का विषयगत रूप तथा मौलिक एवं सौन्दर्यवादी आचार्यों की कल्पना के निकट है।

अभिनवगुप्त का मतः

भरत के परवर्ती आचार्यों के विवेचन के फलस्वरूप रस का स्वरूप क्रमशः विषयिगत होता गया और वह 'आस्वाद' बन गया। इस अर्थ परिवर्तन का सर्वाधिक दायित्व अभिनवगुप्त पर है। उनके मत का सारांश इस प्रकार है-

1. लोक में रस्यादि स्थायी भावों के जो 'कारण' 'द्योतक' और 'पोषक' होते हैं वे काव्य नाटकादि में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी नाम से अभिहित किए जाते हैं।
2. सहृदय द्वारा इन अलौकिक विभावादि के समवेत रूप का मनसा साक्षात्कार ही 'रस' है।
3. यह रस आस्वाद रूप ही होता है आस्वाद का विषय नहीं।
4. रस अनिवार्यतः आत्मविश्रान्तिमयी आनन्द चेतना है।

परवर्ती आचार्यो ने प्रायः रस की इन्हीं विशेषताओं का प्रकार भेद से व्याख्यान किया है।

विश्वनाथ का मतः

आचार्य विश्वनाथ ने सग्रंह और व्यवस्था दोनों ही द ष्टियों से रस के स्वरूप को सर्वमान्य निष्कर्ष तक पहुँचने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। उनके मतानुसार रस का स्वरूप इस प्रकार है।

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्योब्रह्मास्वाद सहोदरः।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमात भिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।

अर्थात् चित्त में सतोगुण के उद्रेक की स्थिति में विशिष्ट संस्कारवान सहृदयजन अखण्ड, स्वप्रकाश और आनन्दमय, चिन्तमय, अन्य सभी प्रकार के ज्ञान से विनिर्मुक्त ब्रह्मास्वाद-सहोदर, लोकोत्तर, चमत्कार प्राणरस का निज रूप से अभिन्नतः आस्वादन करते हैं।

इस परिभाषा के अनुसार-

1. रस आस्वादन का विषय है अर्थात् रस आस्वाद से अभिन्न है।
2. रस का आविर्भाव सतोगुण के उद्रेक की स्थिति में होता है। यह आस्वाद ऐन्द्रिय उत्तेजना आदि से भिन्न सात्त्विक या परिष्कृत कोटि का होता है। मूलतः यह स्थापना भट्टनायक की है। अभिनव और विश्वनाथ ने इसे प्रायः यथावत् स्वीकार कर लिया है।

3. रस अखण्ड है अर्थात् एक तरु तो रसानुभूति में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी आदि की प थक् अनुभूति नहीं होती अपितु सभी को समंजित अनुभूति होती है।
4. रसानुभव अन्य ज्ञान या अनुभव से रहित है क्योंकि रस पूर्ण तन्मय भाव की स्थिति है और इस स्थिति में स्वभाव से अन्य ज्ञान की सम्भावना नहीं है।
5. रस स्वप्रकाशानन्द और चिन्मय अर्थात् आत्म चैतन्य से प्रकाशित आनन्दमयी चेतना है। इसमें ऐन्द्रिक अनुभूति का प्रायः अभाव तथा चैतन्य आत्मास्वाद का सद्भाव रहता है।
6. रस लोकोत्तर चमत्कार प्राण है। वह न प्रत्यक्ष अनुभव है न परोक्ष अपितु अनिर्वचनीय और अलौकिक है। अलौकिक का अर्थ अति प्राक तिक न लेकर अतीन्द्रिय लेना चाहिए।
7. ब्रह्मास्वाद सहोदर है अर्थात् विषयानन्द से भिन्न है। वह इन्द्रियों का विषय न होकर चैतन्य आत्म का विषय है, किन्तु फिर भी वह शुद्ध ब्रह्मानन्द नहीं है।

डॉ० नगेन्द्र का मतः

डॉ० नगेन्द्र ने संस्क त काव्यशास्त्र के आचार्यों के मतों को साररूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है।

''शब्दार्थ के माध्यम से, विशुद्ध भाव भूमिका में, आत्म चैतन्य के आस्वाद का नाम रस है।''

अर्थात् रस काव्य का आस्वाद है। यह आस्वाद आनन्दमय है, किन्तु शुद्ध आत्मानन्द नहीं है, क्योंकि इसमें लौकिक विषयों का एकान्त तिरोभाव नहीं हो पाता है।

डॉ० नगेन्द्र ने रस-विषय पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं को विवादास्पद मानते हुए तीन मौलिक प्रश्न उठाए हैं और रस के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है-

1. भावानुभूति और रसानुभूति में क्या सम्बन्ध है?
2. क्या रसानुभूति अनिवार्यतः आनन्दमयी चेतना है?
3. यदि है, तो इस आनन्द का क्या स्वरूप है?

भावानुभूति और रसानुभूति का सम्बन्धः

भाव की भूमिका का स्पर्श के बिना रस की स्थिति सम्भव नहीं है। अतः रस निश्चय ही भाव पर आश्रित है। भाव के स्पर्श के बिना शब्दार्थ का चमत्कार रस नहीं है। स्वयं अलंकारवादी भी (जो रस को काव्य की आत्मा नहीं मानते) - रस को भाव पर आश्रित मानते हैं-'नाट्यशास्त्र' का यह वाक्य रस और भाव के अनिवार्य सम्बन्ध का प्रमाण रहा है-

''न भाव हीनो स्ति रसो न भावो रस वर्जितः''

भावों से हीन रस नहीं हो सकता और न ही भाव रस से वर्णित है- किन्तु रसानुभूति भावानुभूति से भिन्न है - किसी भी स्थिति में दोनों एक नहीं हो सकती। भाव आस्वाद की द ष्टि से दो प्रकार के माने जाते हैं- सुखद और दुःखद। यदि यह स्वीकार कर लिया जाए कि रस अनिवार्यतः आनन्द रूप है तो यह सहज ही सिद्ध हो जाता है कि रसानुभूति भावानुभूति से भिन्न है क्योंकि करुण रस की अनुभूति अन्ततः आनन्दमयी है और 'शोक' स्थायी भाव की दुःखमयी, वीभत्स रस सुखद चेतना है और जुगुप्सा दुःखद।

क्या रस अनिवार्यतः आनन्दमयी चेतना है?

यह एक महत्त्वपूर्ण और विवादास्पद प्रश्न है। श ंगार, वीर, हास्य, अद्भुत और शान्त का आस्वाद तो स्पष्टतः आनन्दमय होता है परन्तु करुण, भयानक और वीभत्स आदि का आस्वाद भी आनन्दमय

होता है-इस विषय पर काफी विवाद रहा है। यद्यपि बहुमत रस की अनिवार्य आनन्द रूपता के पक्ष में रहा है परन्तु विरोधी स्वर भी काफी मुखर रहा है।

संस्क त आचार्यों में भरत, अभिनव, दशरूपक के टीकाकार, धनिक, मम्मट, विश्वनाथ एवं पं० राज जगन्नाथ किसी-न-किसी रूप में सभी रसों के सुखरूपता के पक्ष में है। किन्तु विरोधी पक्ष में जैन आचार्य द्वय-रामचन्द्र गुणचन्द्र का स्वरूप सबसे ऊँचा है। उनके अनुसार-

''सुख दुःखात्मको रसः।''

अर्थात् रस सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार के होते हैं।

रीतिकालीन कवि-आचार्य भी एक स्वर से रस को अलौकिक आनन्दरूप और ब्रह्मास्वाद सहोदर मानते हैं।

आधुनिक आलोचकों में - आचार्य केशव प्रसाद मिश्र, पं० रामदहिन मिश्र, डॉ० भगवानदास, डॉ० श्यामसुन्दर दास, बाबू गुलाबराय और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी सभी रस को आनन्दरूप मानते हैं। इन्होंने नवीन ज्ञान विज्ञान के आलोक में उसकी अलौकिकता और आनन्दरूपता का अपने ढंग से व्याख्यान किया है। इस प्रसंग मे आचार्य शुक्ल ही प्रथम अपवाद है। रसवाद के अत्यन्त समर्थ पोषक होते हुए भी इन्होंने रस की आनन्दरूपता का स्पष्ट विरोध किया है- ''यदि क्रोध, शोक, जुगप्सा, आदि के वर्णनः श्रोता के हृदय में आनन्द का संचार करे तो या तो श्रोता सहृदय नहीं या कवि के बिना इन भावों का स्वयं अनुभव किए उनका रूप प्रदर्शित किया है।''

वस्तुतः शुक्ल जी की द ष्टि एकांगी नहीं थी उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए रस के स्वरूप की, अपनी मान्यतानुकूल नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में रस के विवेचन का प्रश्न नहीं उठता। किन्तु यदि रस का अर्थ काव्यास्वाद है तो वहाँ भी प्राचीन आचार्यों का बहुमत काव्यास्वाद की आनन्दरूपता के पक्ष में रहा है।

आनन्द का स्वरूप

रस के आनन्द का क्या स्वरूप है? इन प्रश्न का समाधान भी आवश्यक है। रस अथवा काव्यानुभूति जीवनगत अन्य अनुभूतियों से भिन्न है। इसलिए उसे भारतीय आचार्यों ने 'अनिर्वचनीय' कहा है और पाश्चात्य विचारको ने 'सौन्दर्य-भावना' के रूप में कल्पित किया है।

आत्मा की सत्ता में विश्वास कर लेने पर आनन्द के स्थूलतः चार भेद किए जा सकते हैं- I.

आनन्द -

1. आध्यात्मिक (आनन्द), भौतिक आनन्द
2. ऐन्द्रिय
3. रागात्मक
4. बौद्धिक

इनमें प्रियजन के स्पर्श का आनन्द ऐन्द्रिय है, प्रिय के स्नेह का आनन्द रागात्मक है शास्त्र के किसी प्रश्न का समाधान का आनन्द बौद्धिक है और आत्मत्त्व के साक्षात्कार का आनन्द आध्यात्मिक है। काव्यानन्द इनमें से किसके अन्तर्गत आता है या सर्वथा निरपेक्ष और विलक्षण है। भारतीय काव्यशास्त्र में दो मत प्राप्त होते हैं- एक भौतिकवादी और दूसरा आत्मवादी।

प्राचीनों में भरत और भट्टलोल्लट एवं परवर्ती आचार्यों में रामचन्द्र गुणचन्द्र भौतिकवादी हैं।

आत्मवादी मत निश्चय ही आनन्दवादी है। इनके अनुसार रस काव्यानन्द ऐन्द्रिय आनन्द नहीं है वह आत्मानन्द के अत्यधिक निकट है। यद्यपि शुद्ध आत्मानन्द भी नहीं है। रत्यादि भावों की भूमिकावश विषयानन्द से सर्वथा असंस्प ष्ट नहीं है, किन्तु चिन्मय अंश का प्राधान्य होने के कारण आत्मानन्द के निकट पहुँच जाता है। वास्तव में भारतीय आचार्यों ने आनन्द को प्रत्येक स्थिति में आत्मास्वाद रूप ही माना है। विषयानन्द में भी आनन्द तत्त्व आत्मास्वाद का ही वाचक है और काव्यानन्द में भी आनन्द का अर्थ स्पष्टतः विशुद्ध भाव भूमिका में आत्म भोग ही हैं। अतः काव्यानन्द आत्मानन्द से प्रकृति या प्रकार की द ष्टि से नहीं, गुण की द ष्टि से भिन्न है और विलक्षण केवल इसी अर्थ में है कि न तो वह विषयानन्द है और न शुद्ध आत्मानन्द ही।

पाश्चात्य विचारकों के अनुसार यद्यपि काव्यानन्द (रस) लौकिक ही ठहरता है किन्तु यह एक समान नहीं होता। जैसे-स्वादिष्ट होना, द्यूत-क्रीड़ा आदि सब भौतिक है। काव्यानन्द इन सभी आनन्दों में सर्वोपरि है।

अतः इसे आध्यात्मिक न कहकर ऐन्द्रिय आनन्दों में सर्वोपरि मानना चाहिए।

निष्कर्ष:- निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि शुद्ध-बुद्ध आत्मा आनन्दमय है। लेकिन भौतिक जीवन के कारण उस पर एक आवरण पड़ा रहता है जब सफल काव्य द्वारा वह आवरण हटा दिया जाता है तो प्रेक्षक की आत्मा उसमें विद्यमान अपनी उस आनन्दमयी चेतना को प्राप्त करती है और उस समय उसे जिस आनन्द की अनुभूति होती है वह ही काव्यानन्द है।

रस-निष्पत्ति

(भरत मुनि का रस-सूत्र और उसके व्याख्याकार)

किसी काव्य के अध्ययन से पाठक को रस या आनन्द की अनुभूति कैसे होती है। यह 'रस सिद्धान्त' के आचार्यों में पर्याप्त चर्चा का विषय बना रहा है। इस विषय का सर्वप्रथम उल्लेख भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में किया है। 'रस' के सम्पूर्ण विवेचन का आभार भरत का रस-निष्पत्ति विषयक यह इतिहासप्रसिद्ध सूत्र है-

''तत्र विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः''

अर्थात् विभावबद्ध अनुभाव और व्यभिचारी (भाव) के संयोग से रस की निष्पति होती है।

इस सूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दों से भरत का क्या तात्पर्य है। रस का उद्‌गम स्थान कहाँ है? सहृदय उसका उपयोग करता है? आश्रय, अभिनेता, प्रेक्षक आदि का रसोत्कर्ष की प्रक्रिया में क्या स्थान है? इत्यादि महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का स्वयं उत्तर न देकर इस विषय में उन्होंने कुछ वाक्य दिए है जो उनके मत से उद्ध त किए जा सकते हैं-

''यथाहि नाना व्यं जनौषधिद्रव्य संयोगाद्रस निष्पत्तिर्भवति, यथा
हि गुडादिभिर्द्रव्यैव्य जनैरोषधिभिश्च षाडपादयो रसा निर्वर्त्यन्ते,
तथा नाना भावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वभा नुवन्ति''।।

अर्थात् जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनो, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से (भोज्य) रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुड़ादि द्रव्यों व्यंजनो और औषधियों से 'षाडवादि' रस बनते है, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी (नाट्य) 'रस' रूप को प्राप्त होते है।

भरत के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि 'संयोग' का अर्थ संसर्ग और 'निष्पत्ति' का अर्थ नवरूप प्राप्ति (निर्मित) है।

निष्कर्षतः - भरत के मतानुसार-

1. रस आस्वाद नहीं आस्वाद्य है। अनुभूति नहीं अनुभूति का विषय है।
2. स्थायी भाव रस नहीं रस का आधार है।
3. स्थायी भाव सहृदय सामाजिक का नहीं, काव्य (नाट्य) के नायक का हो सकता है।
4. रस वस्तु रूप से 'रंगमंच' पर उपस्थित रहता है।

भरत सूत्र में, विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव पर किसी को आपत्ति नहीं है परन्तु 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दों की व्याख्याएँ ही इन आचार्यों के सिद्धान्तों के निरूपण का कारण है। इस विषय में चार व्याख्याकार प्रमुख हैं-

I. भट्टलोल्लट का मत (उत्पत्तिवाद)

भरत सूत्र के प्रथम व्याख्याकार है-आचार्य भट्टलोल्लट। इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। 'अभिनव भारती' और 'काव्य प्रकाश' में उनके उद्धरण उपलब्ध होते हैं, उन्हीं के आधार पर इनके मत का निरूपण किया जाता है। 'काव्य प्रकाश' के उद्धरण के अनुसार-

विभाव अर्थात् ललना आदि आलम्बन और उद्यान आदि उद्दीपन कारणों द्वारा जो 'रति' आदि भाव उत्पन्न होता है; अनुभाव अर्थात् कटाक्ष, भुज फड़काना आदि कार्यों से प्रतीति के योग्य किया जाता हैः व्यभिचारी भाव अर्थात् निर्वेद आदि सहकारियों द्वारा पुष्ट (उपचित) किया जाता है और साक्षात् रूप से अनुकार्य राम आदि में रहता है, किन्तु नर्त्तक में भी रामादि रूपता का अनुभव होने के कारण वह स्थायी उसमें भी प्रतीत होता है, वही रस है।

संयोगः भट्टलोल्लट के अनुसार स्थायी भाव के साथ विभावादि का संयोग विविध है-

विभाव और स्थायीभाव में-उत्पाद्य और उत्पादक
अनुभाव और स्थायी भाव में - बोध्य - बोधक
व्यभिचारी भाव और स्थायीभाव - पोष्य-पोषक

निष्पत्तिः भट्लोल्लट ने रस निष्पत्ति के व्यापार को तीन भागों में विभाजित कर दिया है। प्रथम है 'उत्पत्ति' क्योंकि विभाव भाव को उत्पन्न करते हैं। दूसरा है 'प्रतीति' क्योंकि अनुभावों के द्वारा सामाजिक को भाव की 'प्रतीति' होती है तीसरा है 'पुष्टि' क्योंकि संचारी भाव स्थायी भाव के पोषक है। इन तीनों के प्रभाव से रस निष्पत्ति होती है। अतः निष्पत्ति का अर्थ हुआ उपचिति।

आरोपवादः 'लोल्लट के अनुसार रस मूलतः अनुकार्य में निबद्ध रहता है। अभिनय कुशलता के कारण सामाजिक नट पर मूल पक्ष का आरोप कर लेता है। नट-नटी पर मूल पक्षों के इस आरोप के कारण ही लोल्लट का मत आरोपवाद कहलाता है।

रस की स्थितिः लोल्लट के अनुसार रस की स्थिति मूलपात्र में होती है। नट में रस आरोपित है। अतः वस्तुरूप से रस की स्थिति काव्य निबद्ध नाम अर्थात् अनुकार्य में है।

शक्तिः

1. भट्टलोल्लट पहले व्यक्ति थे जिन्होनें रस-निष्पत्ति विषयक विवाद का श्रीगणेश किया।
2. उन्होंने ऐतिहासिक व्यक्तियों में रस की स्थिति मानकर सौन्दर्य या रस को विषयगत माना और काव्य की महत्ता का प्रतिपादन किया।
3. नट में भी रसानुभूति की स्थिति को स्वीकार किया। वस्तुतः नट के लिए भी रसानुभूति अनिवार्य है। उसके बिना सफल अभिनव सम्भव नहीं है।

सीमाः

1. लोल्लट ऐतिहासिक व्यक्तियों और कवि निबद्ध व्यक्तियों में अन्तर स्पष्ट नहीं कर पाए।
2. यह भी स्पष्ट नहीं है कि जिस प्रकार दर्शक नाटक देखने के समय रसानुभव करता है और नट अभिनय के समय; उसी प्रकार कवि स्वयं भी नाटक या काव्य की सर्जना के समय रसानुभव करता है।
3. सामाजिक के रसास्वादन को गौण स्थान दिया।
4. यदि भावों की उपचित अवस्था ही रस है तो भावों को क्रमिक उत्कर्ष और अपकर्ष में आनेवाली विभिन्न अवस्थाओं के विषय में कुछ नहीं कहा गया है।

II. शंकुक का मत (अनुमितिवाद)

भरत सूत्र के दूसरे व्याख्याता आचार्य शंकुक हैं। इनकी व्याख्या का आधार न्यायशास्त्र का अनुमान प्रमाण है। इन्होंने भट्टलोल्लट के मत को भ्रामक कहा हैं उनका मत इस प्रकार है कि रस की उत्पत्ति का कारण नट से मूल पात्र और उसके भावों का आरोप नहीं-अपितु अनुमान है। ज्ञात से अज्ञात का ज्ञान ही अनुमान प्रमाण है। धुएँ के प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष अग्नि की सम्भावना अनुमान प्रमाण है। उसी प्रकार रंगमंच पर उपस्थित नट में रामादि प्रमाण है।

शंकुक के इस अलौकिक अनुमान का आधार है-''चित्र तुरंग न्याय'' जो प्रचलित लोक प्रसिद्ध चार प्रकार से भिन्न है। प्रचलित ज्ञान की चार पद्धतियाँ हैं-

1. सम्यक् ज्ञान - राम को राम समझना।
2. मिथ्या ज्ञान - राम को राम न समझकर, कुछ अन्य समझना।
3. संशय ज्ञान - राम है अथवा नहीं, ऐसा संदेहपूर्ण ज्ञान।
4. साद श्य ज्ञान - राम को देखकर यह कहना कि राम जैसा है।

वस्तुतः चित्र तुरंग ज्ञान इन चारों प्रकार के ज्ञान से भिन्न है जैसे चित्र लिखित अश्व को देखकर उसके वास्तविक अश्व के गुणों का अनुमान करके आनन्द उठाया जाता है उसी प्रकार नट-नटी, दुष्यन्त-शकुन्तला या राम-सीता ही मान लिए जाते हैं और रस का आस्वादन करते हैं।

संयोगः अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध

निष्पत्तिः अनुमान या अनुमिति

रस की स्थितिः लोल्लट की भाँति शंकुक ने भी रस की स्थिति अनुकार्यगत मानी है।

शक्तिः

1. शंकुक का योगदान इतना है कि नट-नटी के अभिनय-कौशल का आनन्द भी रसानुभव में महत्त्वपूर्ण योग देता है।
2. रस-सिद्धान्त को पूर्णतः वस्तुपरक स्थिति से हटाकर व्यक्तिपरक स्थिति की ओर एक पग आगे बढ़ाया। किन्तु उत्पत्तिवाद की शंकाएँ 'ज्यों-की-त्यों' रह जाती है।

सीमाः मनोविज्ञान की द ष्टि से अनुमान द्वारा रसानुभूति की बात मिथ्या है और लोकानुभव के विरुद्ध है। अनुमान से ज्ञान होता है, अनुभूति नहीं।

जिसके द्वारा शोक, भय आदि कष्टप्रद भावनाएँ रस रूप होकर आनन्द प्रदायिनी हो जाती है। शंकुक ने सहानुभूति तत्त्व का निषेध करके अनुमान के सिद्धान्त द्वारा भ्रम पैदा किया है।

III. भट्टनायक का मत (भुक्तिवाद)

भरत सूत्र के तीसरे व्याख्याता है-भट्टनायक। यहीं से रस-सिद्धान्त में उच्च स्तर की सूक्ष्म-चिन्तन आरम्भ होता है और इसकी वस्तुपरक स्थिति से हटकर अनुभूतिपरक व्याख्या होती है।

भट्टनायक के अनुसार, न रस की उत्पत्ति होती है, न अनुमिति, अपितु भुक्ति होती है। सामाजिक रस रूप में परिणत अपने स्थायी भाव का उपभोग करता है।

सामाजिक के सहृदय में रस की भुक्ति के लिए काव्य की क्रियाएँ ही रस के उद्बोधक कारण हैं। काव्य शब्दात्मक है। अतः भट्टनायक शब्द रूप काव्य के तीन व्यापार मानते हैंः-

अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व।

1. अभिधा व्यापार - इसके द्वारा सहृदय काव्य के शब्दार्थ को ग्रहण करता है।
2. भावकत्व व्यापार - भावकत्व का अर्थ है साधारणीकरण। इसके द्वारा विभावादि सामान्य प्रतीत होते हैं। भाव न होने पर भाव की वैयक्तिकता का नाश होकर साधारणीकरण हो जाता है। इससे सीता, सीता न रहकर कामिनी मात्र प्रतीत होता हैं। उसी प्रकार रति आदि स्थायी भाव व्यक्तिगत सम्बन्धों से मुक्त होकर शुद्ध सामान्य प्रतीत होता है। नायक-नायिका, प्रेक्षक सभी का वैयक्तिक तत्त्व समाप्त होकर साधारणीकरण अनुभव रह जाता है। रजोगुण और तमोगुण का लोप होकर साधारणीक त अनुभव रह जाता है। रजोगुण और तमोगुण का लोप होकर सतोगुण का उद्रेत हो जाता है।
3. भोजकत्व - जिस व्यापार द्वारा साधारणीकरण स्थायी भाव का रस रूप में भोग होता है, उसे भोजकत्व कहते हैं। यह भोग लौकिक अनुभव से भिन्न होता हैं। यह आनन्द 'ब्रह्मानन्द-सहोदर कहलाता है।
   संयोग का अर्थ - भोज्य-भोजक
   निष्पत्ति का अर्थ - भोग या भुक्ति

रस की स्थितिः भट्टनायक के अनुसार रस की स्थिति सहृदय सामाजिक में है क्योंकि स्थायी भाव की स्थिति सहृदय के चित्त में होती है। रस की स्थिति भी सहृदय के चित्त में माननी पड़ेगी।

शक्तिः

1. भट्टनायक का सबसे बड़ा योगदान उनका साधारणीकरण सिद्धान्त है।
2. उन्होनें रस को विषयीगत माना। इनकी रस सम्बन्धी व्याख्या से रस की आत्मगत स्थिति को प्रधानता प्राप्त हुई।
3. रस की आनन्दरूपता का सर्वप्रथम विभ्रान्त विवेचन किया।

सीमाः

1. भट्टनायक ने 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' नामक जिस काव्य-व्यापारों की कल्पना की है वह शास्त्र सम्मत नहीं है। इन दोनों का कार्य प्रमाण-सिद्ध व्यंजना से ही चल जाता है।
2. रसास्वाद या काव्यानन्द चित्त की आत्मा में विश्रान्ति का नाम हैं यह विश्रान्ति सत्य गुण के उद्रेक की अवस्था में होती है। जब रज और तम का शमन हो जाता है किन्तु सर्वथा अभाव नहीं होता, अतः यह आत्म विश्रान्ति से हीनतर है अर्थात् ब्रह्मास्वाद विधि है, ब्रह्मास्वाद नहीं।

IV. अभिनवगुप्त का मत (अभिव्यक्तिवाद)

इस सूत्र के चौथे व्याख्याता है - आचार्य अभिनवगुप्त। ये शैव मतावलम्बी आचार्य हैं। इन्होंने शुद्ध साहित्यिक द ष्टि से रस सिद्धान्त का निरूपण किया है। अभिनवगुप्त के मत का सारांश यह है-

सहृदय जन लोक में रति आदि भाव संस्कार रूप में विद्यमान होते हैं। वे सहृदय जन-लोक में ललना आदि (कारणों) के द्वारा रति आदि का अनुमान करने में निपुण होते हैं। काव्य नाट्य में कारण आदि को त्यागकर वे ललनादि अलौकिक विभाव आदि का रूप धारण कर लेते हैं तथा काव्य की शक्ति से सामान्य विभाव आदि के रूप में प्रतीत होने लगते हैं। सहृदयों में स्थित रति आदि भाव इन्हीं के द्वारा व्यंजना से अभिव्यक्त होकर आस्वादित किया जाता है। इस प्रकार का विलक्षण आस्वाद ही रस कहलाता है। यह स्थायी भाव से विलक्षण है।

अभिनवगुप्त का मत भट्टनायक से सर्वथा भिन्न नहीं है। वह भट्टनायक के साधारणीकरण तथा रसोद्रेक के समय सतोगुण के प्राधान्य की बात को बिना संशोधन स्वीकार कर लेते हैं। अभिनवगुप्त भावकत्व और भोजकत्व के स्थान पर व्यंजना को आरूढ़ करना चाहते हैं।

संयोग का अर्थ - व्यंग्य-व्यंजक

निष्पत्ति का अर्थ - अभिव्यक्ति।

रस का स्थान - अभिनवगुप्त के मतानुसार सहृदय के अन्तःकरण में इत्यादि स्थायी भाव विभावादि द्वारा व्यंजक भाव से अभिव्यक्त हो जाते हैं। ठीक उसी प्रकार मिट्टी में गंध पहले से ही विद्यमान रहती है और जिस प्रकार जल के छींटे पड़ने पर वह गंध व्यक्त हो जाती है उसी प्रकार विभावादि के संयोग के रसरूपी नया तत्त्व व्यक्त होता है। रस स्थायी भाव में नहीं है और न विभावादि में अलग उसकी सत्ता मानी जा सकती है अपितु दोनों के संयोग मे निहित है रस की निष्पत्ति सामाजिक में होती है।

शक्तिः

1. अभिनव ने सर्वप्रथम रस के एकान्त सहृदयनिष्ठ रूप की प्रतिष्ठा की। रस की आस्वादरूपता का विभ्रात शब्दों में प्रतिपादन किया।
2. अभिनव ने रस-विवेचन की प्रमुख सिद्धि समष्टिगत रस की कल्पना है। उन्होंने सामूहिक रस-चेतना में ही रस-चक्र की पूर्णता स्वीकार की है।
3. रस के अलौकिक स्वरूप पर विशेष बल दिया।

सीमाः रस का स्वरूप एकान्त आत्मपरक भाव लेने पर काव्य की सत्ता गौण हो जाती है।

परवर्ती आचार्यों में प्रायः अभिनव के मत को ही स्वीकार किया हैं इनमें धन जय, विश्वनाथ और राज जगन्नाथ का नाम प्रमुख है। इन्होंने व्यंजना व्यापार की महत्ता प्रतिपादित की है।

हिन्दी की काव्यशास्त्रीय परम्परा में आचार्य शुक्ल ने रस की व्याख्या आधुनिक मनोविज्ञान के आलोक में की है-

1. सहृदय पुरुषों के हृदय में वासनारूप में स्थित स्थायी भाव, विभावदि के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस के स्वरूप को प्राप्त करती है स्थायी भाव की अनुभूति ही उसकी मानसिक अभिव्यक्ति है।
2. व्यंजना यदि कुछ व्यंजित करती है तो वह है कि (काव्य में) प्रस्तुत भाव श्रोता या दर्शक द्वारा रसरूप में अनुभव किया गया है। पक्ष के मन में कोई रस नहीं होता। जिसकी व्यंजना की जा सके।

निष्कर्षतः- निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भरत-सूत्र के व्याख्याताओं में अभिनवगुप्त की व्याख्या सर्वाधिक प्रमाणिक है। वे रस-निष्पत्ति का आशय 'रसाभिव्यक्ति' लेते हैं। परवर्ती आचार्यों को भी यही मान्य है। यही उचित प्रतीत होता है।

साधारणीकरण

'साधारणीकरण' रस सिद्धान्त का मूल आधार है। काव्य में वर्णित विशिष्ट रामादि पात्रों के 'भाव' सर्वसाधारण या कम-से-कम सहृदय साधारण के आस्वाद के विषय किस प्रकार हो जाते हैं? यह काव्यशास्त्र का अत्यन्त मौलिक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। काव्य जानव-जीवन का अत्यन्त प्राचीन और मूल्यवान उपकरण है। वह हजारों वर्षो से प्रबुद्ध मानव की आत्माभिव्यक्ति एवं आत्मास्वाद का सुन्दर माध्यम रहा है। किन्तु चिन्तनशील मनुष्य ने जब काव्यास्वाद के विषय में विचार किया तो पहला प्रश्न हुआ कि राम और दुष्यन्त आदि से हमारा क्या सम्बन्ध है? देश-काल का विराट व्यवधान होते हुए भी उनके भाव हमारे आस्वाद के हेतु कैसे बनते हैं? इन प्रश्नों का प्रामाणिक समाधान है।

'साधारणीकरण सिद्धान्त'।

साधारणीकरण का स्वरूपः

साधारणीकरण का अर्थ है - सामान्यीकरण अर्थात् जो साधारण नहीं है उसे साधारण कर देना। ''असाधारणस्य साधारणीकरण इति साधारणीकम्''। जिस वस्तु का साधारणीकरण होता है। वह वस्तु अपनी विशेषताओं को त्यागकर सामान्यरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है-भावक की द ष्टि में उसके समस्त वैयक्तिक धर्म ओझल हो जाते हैं।

साधारणीकरण सिद्धान्त के उद्‌भावक या जन्मदाता है-आचार्य भट्टनायक। वैसे साधारणीकरण के बीज तो भरत के ''नाट्‌यशास्त्र'' आदि मे भी मिल जाते हैं।

भट्टनायक का मतः

भट्टनायक विभावादि के पूर्ण साधारणीकरण के साथ स्थायी भावों मे विभिन्न सम्बन्धों से मुक्त होने को साधारणीकरण मानते हैं। गोविन्द ठाकुर ने 'काव्यप्रकाश' की टीका 'काव्यप्रदीप' में भट्‌टनायक के मत को इस प्रकार व्यक्त किया हैः-

''भावकत्वं साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणी क्रियन्ते। साधारणीकरणं चैतेदव यत्सीतादि विशेषणा कामिनीत्वादि सामान्येनोपस्थितः। स्था ''अनुभावादिनां च सम्बन्धिविशेषानंवाछित्वेन।''

अर्थात् भावकत्व का अर्थ है साधारणीकरण। इस व्यापार के द्वारा विभावादि का और स्थायी भावों का साधारणीकरण होता है। साधारणीकरण से अभिप्राय है सीतादि विशेष पात्रों का कामिनी आदि सामान्यों रूपों में उपस्थित होना। स्थायी भाव और अनुभाव के साधारणीकरण का आशय है विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्ति।

इस व्याख्या के अनुसार विभाव अर्थात् आश्रय, आलम्बन और उद्दीपन, अनुभाव, स्थायी तथा संचारी सभी का साधारणीकरण होता है।

वस्तुतः पहले पाठक या दर्शक राम और सीतादि को विशेषरूप में ही ग्रहण करता है किन्तु बाद में जो कुछ पढ़ता, सुनता या नाटक में देखता है उसे उससे प्रभावित होकर बार-बार उसी का

ध्यान करता है। उस समय देशकाल का बन्धन भी छिन्न-भिन्न हो जाता है। यह आत्मविभोर करनेवाली दशा भावकत्व व्यापार से उत्पन्न होती हैं

भट्टनायक के 'साधारणीकरण सिद्धान्त' का विश्लेषण इस प्रकार है।

1. अभिधा द्वारा काव्यार्थ का बोध।
2. अर्थबोध के उपरान्त भावकत्व व्यापार की सक्रियता।
3. भावकत्व व्यापार के द्वारा विभावादि के विशेष सम्बन्धों का परिहार। यही 'साधारणीकरण है।'
4. भाव्यमान स्थायी भाव भोजकत्व व्यापार द्वारा रसरूप में परिणत हो जाता है।
5. रसानुभूति प्रदान करनेवाली दशा ही 'साधारणीकरण' है।

अभिनवगुप्त का मतः

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के भावकत्व व्यापार को निराधार और अशास्त्रीय माना है। तथा भावकत्व व्यापार की कल्पना को निराधार बताया है। उनके अनुसार व्यंजनाशक्ति से ही भावकत्व और भोजकत्व का काम चल सकता है और व्यंजना द्वारा ही साधारणीकरण की शक्ति का आविर्भाव होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार केवल विभाव और काव्यगत स्थायी भाव का ही साधारणीकरण नहीं होता। अपितु, सामाजिक के स्थायी भाव का भी साधारणीकरण होता है।

अभिनवगुप्त का कथन है कि ''अब आश्रय और आलम्बन दोनों ही देश-काल तथा ममत्व-रत्व के बन्धन से मुक्त हो जाएँगे तब उसका वैशिष्ट्य भी निश्चय ही देश-काल और व्यक्ति संसर्ग ने मुक्त होकर-सामान्य बन जाएगा।''

वस्तुतः भट्टनायक और अभिनवगुप्त के द ष्टिकोणों में बहुत ही सूक्ष्म अन्तर है भट्टनायक का कहना है कि दर्शन कथा के पात्रों को सामान्य बनाकर रसानुभूति करता है किन्तु अभिनवगुप्त का कहना है कि दर्शक निर्लिप्त भाव से यह मानता है कि वस्तु विशेष देखकर मेरे मन में जिस प्रकार आनन्द की अनुभूति होती है, उसी प्रकार प्रत्येक सहृदय के हृदय में होती है।

आचार्य विश्वनाथ का मतः

दर्पणकार विश्वनाथ ने वैसे ही स्थायी भाव और विभावादि सभी का साधारणीकरण माना है किन्तु उन्होनें आश्रय के साथ प्रमाता के अभेद या तादात्म्य को औरों की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है।

व्यापारो स्ति, विभावादेनम्नि साधारणी क तिः।
तत्प्रभावेण, यस्यासन्पाथोधिप्लव नादयः।।

अर्थात् साधारणीकरण विभावादि का विभावन नामक व्यापार है। इसी के प्रभाव से उस समय प्रमाता अपने को समुद्रलंघन करनेवाले हनुमान आदि से अभिन्न समझने लगता है।

इस प्रकार साधारणीकरण क्रिया के फलस्वरूप प्रमाता साधारण आश्रय से ही नहीं, अपितु अलौकिक आश्रय से भी अभेद सम्बन्ध स्थापित कर लेता है।

निष्कर्षतः- काव्य नाटक गत-विभाव आदि तीनों का व्यापार अर्थात् सम्मिश्रित क्रिया-कलाप साधारणरूप ग्रहण कर लेता है। यह पूर्व विवेचित मतों के अनुसार विशिष्ट का सामान्यीकरण है इसके परिणामस्वरूप हनुमान आदि पात्रों और सहृदय दोनों में अभेद स्थापित हो जाता है। इससे सहृदय दर्शक पात्रों को ही रीति आदि भावों को ग्रहण कर लेने के फलस्वरूप मानसिकरूप से उन्हीं के अनुरूप आचरण करने लगता है यही सामान्य का विशिष्टीकरण है, यही स्थिति रसास्वाद

की भूमिका है। इस प्रकार विश्वनाथ के अनुसार प्रमाता का आश्रय के साथ अभेद या तादात्मय की अवस्था की साधारणीकरण है।

पंडितराज जगन्नाथ का मतः

पं० राज प्रत्यक्षः साधारणीकरण को नहीं मानते। इसके स्थान पर वे 'दोष कल्पना' की बात करते हैं। उनका कहना है कि कुछ आचार्य विभावादि के साधारणीकरण की जो व्याख्या करते हैं, वह दोष की कल्पना के बिना सम्भव नहीं है क्योंकि काव्य में शकुन्तला आदि शब्दों द्वारा शकुन्तला का ही बोध होता है। उससे कान्तात्व या सामान्य नारी का बोध कैसे हो सकता है। वस्तुतः पंडितराज भी एक प्रकार से साधारणीकरण को स्वीकार करते हैं।

हिन्दी आचार्यों के मतः

पंडितराज के बाद गम्भीर शास्त्रीय विवेचन का क्रम प्रायः समाप्त हो गया। हिन्दी के रीति काव्यों का अनुराग काव्यशास्त्र के रोचक एवं सरल प्रसंगों तथा कवि शिक्षा तक ही सीमित रहा। काव्यशास्त्र के इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक विषय का विवेचन गतिरुद्ध पड़ा रहा। परवर्ती काल में आचार्य शुक्ल ने अपने ''साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद'' निबन्ध में इस विषय पर गम्भीरता से विचार किया।

आचार्य शुक्ल का मतः

आचार्य शुक्ल का कथन है, ''जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप मे नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उस भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्‍बोधन की पूरी शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।

इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी की द ष्टि अतीत पर न होकर वर्तमान पर ही स्थिर है और इन्होंने इस प्राचीन सिद्धान्त की व्याख्या 'लोक धर्म सिद्धान्त' के आधार पर की है। शुक्ल जी के मतानुसार साधारणीकरण सबका नहीं हो सकता, केवल आलम्बन का ही हो सकता है क्योंकि काव्य रचनाओं और रसास्वाद, दोनों की प्रक्रिया में वही मुख्य है। आलम्बन का अर्थ है- भाव का विषय। उसका साधारणीकरण इस प्रकार होता है कि पहले वह कवि के भाव का विषय बनता है और फिर समस्त सहृदय समाज के भाव का विषय बन जाता है।

इससे स्पष्ट है कि वे आलम्बन धर्म को प्रधानता देते हैं और स्पष्ट कहते हैं कि साधारणीय आलम्बनत्व धर्म का होता हैं। अर्थात् उन सामान्य गुणों का होता है।

व्यक्ति वैचित्र्यवादः

आचार्य शुक्ल ने 'साधारणीकरण सिद्धान्त' का पोषण करते हुए कुछ नए तथ्यों की ओर ध्यान आक ष्ट किया है। उनका मत है कि कल्पना में जो कुछ उपस्थित होगा वह व्यक्ति या वस्तु विशेष ही होगा। सामान्य या जाति विशेष की तो मूर्त भावना हो नहीं सकती।

शुक्ल जी ने एक अन्य तथ्य की ओर संकेत किया है, ''आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण की प्रक्रिया में आलम्बन पहले कवि के भावों का विषय बनता है, फिर उन भावों को कवि, काव्य में आश्रय के माध्यम से व्यक्त करता है। और तत्पश्चात् सहृदय उनको अनुभूत करता है।'' स्पष्टतः शुक्ल जी कहना चाहते हैं कि साधारणीकरण तीनों का होता है-आलम्बन, कवि और सहृदय का, परन्तु साधारणीकरण का मूल तत्त्व आलम्बन धर्म ही है।

शुक्ल जी के मत भी भट्टनायक की भाँति आलम्बनत्व के साधारणीकरण की बात को स्वीकार करते हैं।

शुक्ल जी ने रसावस्था की एक निम्न अवस्था को भी स्वीकार किया है जो स्पष्टतः आचार्य विश्वनाथ के मत का प्रभाव है जिसमें वे साधारणीकरण की दो स्थितियाँ मानकर चलते हैं।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयीः

वाजपेयी का मत है कि सहृदय का कवि की भावना तक पहुँच जाना ही साधारणीकरण है। भावना द्वारा साधारणीकरण की विवेचना करते हुए लिखते हैं, ''साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता के बीच भावना का तादात्म्य हैं साधारणीकरण वास्तव में कवि-कल्पित' व्यापार का होता है, केवल किसी पात्र विशेष का नहीं।''

डॉ० नगेन्द्र का मतः

डॉ० नगेन्द्र भरत के इस कथन, 'एभ्यश्च सामान्य गुण योगेनरसा निष्पद्यन्ते' के आधार पर रस की स्थिति कवि और सहृदय दोनों को मानते हुए कवि की अनुभूति का साधारणीकरण मानते हैं। उनके मतानुसार काव्य प्रसंग का साधारणीकरण हो जाता है। उनके अनुसार, ''काव्य प्रसंग तो अपने आप में जड़ है- उसका प्रभावशाली अंश तो उससे ध्वनित होनेवाला अर्थ है और यह अर्थ वास्तव में कवि का सम्बन्ध अथवा उसकी 'सर्जनात्मक अनुभूति' है। अतः सर्वांग के साधारणीकरण के पूर्व कवि की अनुभूति का साधारणीकरण अनिवार्य है। अतः निष्कर्ष यही निकाला कि साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है, अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति को इस प्रकार अभिव्यक्त कर सकता है कि वह सभी के हृदय के समान अनुभूति लगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कहते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है।''

डॉ० नगेन्द्र का आशय यह है कि जब तुलसी का रावण राम की भर्त्सना करता है जब हमारे हृदय में रावण के प्रति तुच्छ या भाव या घ णा उत्पन्न होती है क्योंकि कवि का यही अभिप्रेत है और जब माइकेल्ड मधुसूदनदत्त के 'मेघनाथ वध' के भावन पर हम मेघनाथ के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं तो इसका कारण भी यही है कि वह स्वयं उनके प्रति साहनुभूति पूर्ण है। अतः आलम्बन का अभिप्राय है- कवि की अनुभूति का संवेद्य रूप, और इसी का साधारणीकरण होता है। इस प्रकार डॉ० नगेन्द्र ने यह सिद्ध किया कि भट्टनायक अभिनवगुप्त तथा शुक्ल जी इसी बात को कहना चाहते थे, किन्तु अपने वस्तुवादी द ष्टिकोण तथा भारतीय काव्यशास्त्र की निर्वेयक्तिक चेतना के कारण इस सत्य को स्पष्ट नहीं कर सके।

पाश्चात्य समीक्षक और साधारणीकरणः

मनोविज्ञान की द ष्टि से विचार करनेवाले पाश्चात्य समीक्षकों ने विभावादि के साधारणीकरण की चर्चा न करके भाव तादात्म्य पर ध्यान दिया है और उस स्थिति को व्यक्त करने के लिए इम्पैथी शब्द का प्रयोग किया है। तदनुभूति (Empathy) की दशा में सहृदय और भोक्ता कवि और पाठक दोनों का व्यक्तित्व एक हो जाता है। मनोविज्ञान के विद्वान ए०ई०मैण्डर (A.E. Mander) ने लिखा है -

"Empathy Cannotes the state of the reader or spectator who has last for a while his personal sey consciousness and is identifying himself with some charactor in the story or screen"?

(Psychology for every man or woman (P. 59)

अर्थात् भाव तादात्म्य या तदनुभूति पाठक या दर्शक की वह मानसिक दशा है, जिसमें वह थोड़ी देर के लिए अपनी वैयक्तिक आत्म-चेतना को भूलकर नाटक या सिनेमा के किसी पात्र के साथ अपना तादात्मय स्थापित कर लेता है।

इसी प्रकार के विचार रिचर्ड्स और क्रोचे ने भी व्यक्त किए हैं। इनके अनुसार किसी कवि की रचना का रसास्वादन करने के लिए हमको इसके धरातल तक पहुँचना चाहिए।

उपसंहारः

निष्कर्षतः साधारणीकरण के इस सिद्धान्त का उद्भावन और व्यवस्थित विवेचन भट्टनायक ने किया है तथा उसे शास्त्रीयरूप देने का श्रेय आचार्य अभिनवगुप्त की है। आचार्य शुक्ल और डॉ० नगेन्द्र की मान्यता का विश्लेषण भी यही है कि साधारणीकरण का व्यापार आलम्बन से प्रारम्भ तथा प्रेरित होता है और अन्त उसी के द्वारा संचारित होता है किन्तु रचना में आश्रय, कवि तथा सामाजिक तीनों का सहयोग आवश्यक है। रसानुभूति के लिए एक प्रकार की भावमूलक तन्मयता अपेक्षित होती है। इसी तन्मयता को काव्यशास्त्रीय भाषा में साधारणीकरण भी कहा गया है। वास्तव में जिस साहित्य का साधारणीकरण का आधार टूटा हुआ है वह कभी भी सामाजिकों में स्थान नहीं बना सकता। कवि की उसी अनुभूति का साधारणीकरण संभव है जो विभावादि के माध्यम से कलात्मक औचित्य प्रापत करके सहृदय संवेद्य रूप में व्यक्त हो। अतः विभावादि, स्थायी भाव, कवि की अनुभूति आदि का साधारणीकरण तिरोभाव के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

सहृदय की अवधारणाः

सहृदय शब्द का अर्थ है- समान हृदय वाला। कवि, कलाकार मूर्तिकार या शिल्पी के हृदय में जो विशिष्ट भाव रहते हैं उसको वही अनुभव कर सकता है जो उसी प्रकार की अनुभूति सम्पन्न हृदय रखता हो। रचनाकार के हृदय में जो व्याकुलता होती है उसे रूप देने का प्रयत्न ही कला है। उसके लिए कवि या कलाकार को साधना की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार की व्याकुलता कवि या कलाकार के चित्त में होगी उसी प्रकार की व्याकुलता उसकी क ति या रचना सहृदय के हृदय में उत्पन्न कर सकती है उससे ज्यादा नहीं, इसलिए यदि कवि या कलाकार समाधिनिष्ठ हो सकता है तो बदले में सहृदय को भी समाधिनिष्ठ कर सकता है यदि वह शिथिल समाधि है तो सहृदय की भी समाधि शिथिल होगी।

समाधि का अर्थ है-इन्द्रियों का बाहरी विषयों से निव त होकर अन्तर्मुखी होना। भारतीय आचार्यो के अनुसार जब तक कवि के चित्त में स्वयं रसानुभूति नहीं होती तब तक वह सहृदय को भी रस बोध नहीं करवा सकता। कवि या रचनाकार अन्तरतम की रसानुभूति को रूप देता है। और सहृदय उस रूप का ब्राह्य प्रत्यक्ष करके अन्तर्मुखी होता है।

काव्य के प्रसंग में रस लोकोत्तर अनुभूति है, ऐसा सभी आचार्यों का कहना है। इसका अर्थ यह है कि लोक में जो लौकिक अनुभूति होती है उससे भिन्न कोटि की यह अनुभूति है। प्रत्यक्ष जीवन में राम और सीता का प्रेम है वह लौकिक है, परन्तु नाटक या काव्यस्वादन से जो सीता और राम हमारे चित्त में बनते हैं वे उससे भिन्न हैं।

वस्तुतः सामाजिक या सहृदय के हृदय में संस्काररूप में सूक्ष्मतया स्थिति रति आदि स्थायी भाव होते हैं। जिनके हृदय में ये संस्काररूप में सूक्ष्मतया स्थिति रति आदि स्थायी भाव होते है और जिनके हृदय में ये संस्कार जितने जागरूक होते हैं, वे उतना ही अधिक रसास्वादन कर सकते हैं। वासना रूप से स्थित स्थायीभाव भी उन्हीं सामाजिकों में सम्यक् अभिव्यक्त होता है, जिन्होनें लौकिक जीवन में ललना, उद्यान तथा कटाक्ष आदि के द्वारा रति आदि की बार-बार अनुभूति की है और उसमें निपुणता प्राप्त करती है अर्थात् जो रसिक हैं, विरक्त नहीं हो गए हैं इस प्रकार सहृदय सामाजिकों में ही इत्यादि भाव की अभिव्यक्ति हुआ करती है और सहृदयता के लिए सहज संस्कार आवश्यक है। इसीलिए आचार्यों ने सहृदय को 'सवासन' कहा है।

अर्थात् 'सकल सहृदय संवाद भाजा' समस्त सहृदयों की समान अनुभूति का विषय।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार सहृदय पहले बाह्यरूप को प्रत्यक्ष करता है और फिर धीरे-धीरे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तत्त्व की ओर जाता है।

उदाहरणार्थ लोक में 'घट' शब्द का अर्थ है, मिटट्ी का बना हुआ पात्र विशेष। किन्तु यह घड़ा स्थूल होता है। यदि हम शब्द का उच्चारण मन-ही-मन करें तो 'घड़ा' पद और 'घड़ा' पदार्थ सूक्ष्म रूप में चित्त में आ जाते हैं। इस प्रकार जो मानस मूर्ति तैयार होती है वह सूक्ष्म कही जाती है। इस प्रकार स्थूल जगत् के सिवा एक सूक्ष्म जगत् की मानसमूर्ति रचने की सामर्थ्य मनुष्य मात्र में है। इसे ही भाव जगत् कहते हैं। लोक में जो घड़ा है वह स्थूल जगत् का अर्थ है। मानस अर्थ भाव जगत् का अर्थ है। 'घर' नामक पद का यह अर्थ सूक्ष्म है और लोक में प्रचलित स्थूल अर्थ से यह भिन्न है।